दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक चौथा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

श्रावण
2477

आत्म-मार्ग

यथार्थ आत्मस्वरूप को समझे बिना देहादि की क्रिया की बातों में और उसके झगड़े में जगत् रुका रहता है। आत्ममार्ग तो अंतर अनुभव में है। अनादि की विपरीतता से जीव ने जो माना है, वह सच्चा नहीं है।

[समयसार-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

76

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- मोक्षतत्त्व (3)
2- लोगों को खबर नहीं है
3- आत्मार्थी का पहला कर्तव्य (4)
नवतत्त्व का ज्ञान सम्यग्दर्शन का व्यवहार है
4- अवतार बंद होने का उपाय
5- ज्ञानी की सीख
6- मोक्षतत्त्व का साधन
7- सिद्धत्व के लक्ष से साधकत्व का प्रारंभ
8- सच्चे और झूठे का विवेक
9- पुण्य, पाप और धर्म संबंध में—

निम्न साहित्य मँगाइए

अनुभवप्रकाश	0-5-0
पंचमेरु पूजन संग्रह	0-12-0
प्रवचनसार	5-0-0
अष्टप्राभृत	3-0-0
चिद्विलास	1-2-0
जैन बालपोथी	0-4-0

[डाक व्यय अलग]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

आत्मधर्म

श्रावण 2477 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक चौथा

मोक्षतत्त्व (3)

श्री प्रवचनसार गाथा 272 पर वीर सं. 2476के ज्येष्ठ शुक्ला 5 (श्रुतपंचमी) के दिन लाठी के जिनमंदिरजी की प्रतिष्ठा के वार्षिक महोत्सव प्रसंग पर लाठी में पूज्य स्वामीजी का प्रवचन

271वीं गाथा में संसारतत्त्व का वर्णन किया, अब इस 272वीं गाथा में उस संसारतत्त्व के सन्मुख मोक्षतत्त्व को प्रगट करते हैं। मोक्षतत्त्व आत्मा की निर्विकारी शुद्धदशा है। संसार आत्मा की भूलयुक्त विकारदशा है और मोक्ष आत्मा की पवित्र दशा है, आत्मा तो उन दोनों अवस्थाओं में ध्रुवरूप नित्य रहनेवाला है। संसार और मोक्ष – यह दोनों आत्मा की क्षणिक अवस्थाएँ हैं। संसार का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं हो जाता और मोक्षदशा प्रगट होने पर आत्मा नवीन प्रगट नहीं होता। संसारदशा का व्यय और मोक्षदशा का उत्पाद होता है, आत्मा तो द्रव्यदृष्टि से एकरूप ध्रुव है। जो आत्मा संसारदशा में था, वही मोक्षदशा में रहता है।

संसारतत्त्व का वर्णन करते हुए 271वीं गाथा में तत्त्व की विपरीत श्रद्धावाले द्रव्यलिंगी श्रमण को मुख्य संसारतत्त्व कहा था। यहाँ मोक्षतत्त्व के वर्णन में भावलिंगी शुद्धोपयोगी श्रमण मोक्षतत्त्व है – ऐसा कहते हैं।

अयथाचरणहीन सूत्र अर्थ सुनिश्चयी उपशांत जे।
ते पूर्ण साधु अफल आ संसारमां चिर नहि रहे।।272।।

इस प्रवचनसार शास्त्र की अन्तिम पाँच गाथाओं को श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पाँच रत्नों की उपमा दी है, उन पाँच रत्नों में यह दूसरा रत्न है। द्रव्यलिंगी संसारतत्त्व अनंत संसार में परिभ्रमण करेगा – ऐसा कहा था और भावलिंगी श्रमण अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करेगा, इससे वह मोक्षतत्त्व है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

मोक्ष के साधक श्रमण कैसे होते हैं ? त्रिलोक के मुकुट के समान, विवेकरूपी दीपक के प्रकाश वाले होते हैं। संसारतत्त्ववाला जीव स्वयं अविवेकी था, यहाँ मोक्षतत्त्व में प्रथम ही विवेक अर्थात् भेदज्ञान की बात की है। केवलज्ञान सूर्य है और मति-श्रुतज्ञान दीपक हैं। श्रमण को अभी केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ है, किन्तु यथार्थ मतिश्रुतज्ञान प्रगट हुए हैं, वह त्रिलोक के चूड़ामणि समान दीपक हैं। सम्यग्ज्ञान का विवेक प्रगट हुए बिना मुनिदशा नहीं होती, इससे प्रथम विवेक की बात ली है। लोग भी कहते हैं कि –

धर्म खेत में न उगे, धर्म न हाट बिकाय।
प्रगट धर्म विवेक से, जो करिये तो थाय।।

धर्म कहीं बाह्य से नहीं मिलता, किन्तु अंतरंग विवेक से होता है। विवेक का अर्थ क्या है ? स्व-पर पदार्थों का स्वभाव जैसा है, वैसा ही ज्ञान में जानना, वह विवेक है। प्रथम तो श्रमण को ऐसे विवेक के कारण यथास्थित पदार्थ निश्चय होता है अर्थात् पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही उसकी श्रद्धा होती है। घड़ा मिट्टी से होता है – ऐसा मानना, वह यथास्थित पदार्थश्रद्धा है, और कुम्हार घड़ा बनाता है – ऐसा मानना यथास्थित पदार्थश्रद्धा नहीं किन्तु विपरीत श्रद्धा है। जब पदार्थ की जिस अवस्था का स्वकाल होता है, तब वह अवस्था स्वतंत्ररूप से उसके अपने से ही होती है, दूसरी वस्तु से उसमें कुछ भी नहीं होता – ऐसा समझना, वह पदार्थ की यथार्थ श्रद्धा है। ऐसी यथार्थ श्रद्धा प्रगट करने से ही पदार्थों संबंधी उत्सुकता नष्ट होती है। यदि पदार्थ का यथार्थ निर्णय न करे तो 'पदार्थ ऐसा होगा या वैसा ?' – ऐसी शंका के झूले पर झूलता रहेगा, इससे उसकी आकुलता दूर नहीं होगी और वह कभी स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकेगा। मोक्ष के साधक मुनियों ने विवेकरूपी दीपक के प्रकाश से पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय किया है और इस निश्चय के द्वारा उत्सुकता को दूर किया है।

शुभराग बंध का कारण है, वह मोक्ष का साधन नहीं है। पुण्य पुण्यतत्त्व है, उससे धर्म नहीं होता, इसप्रकार नवों तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा द्वारा 'यह कैसा होगा ? क्या पुण्य से धर्म होता होगा!' इसप्रकार की सर्व शंकाएँ दूर हो जाती हैं। निःशंकरूप से नवतत्त्वों का निर्णय न करे, वहाँ तक उपयोग आत्मस्वरूप में एकाग्र नहीं होता। प्रथम नवतत्त्वों का निर्णय करके आत्मा क्या है, वह निश्चित कर ले, पश्चात् आत्मा में उपयोग को लगाए तो वहाँ एकाग्रता हो। पदार्थ निश्चय करके जिसका उपयोग अपने स्वरूप में स्थिर हो गया है – ऐसे साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व कहते हैं।

मोक्षतत्त्व अर्थात् क्या ? उसकी यह बात चल रही है। स्वरूपमंथर अर्थात् जो आत्मस्वरूप में जम गये हैं – ऐसे भावलिंगी मुनि को वर्तमान में केवलज्ञान नहीं है, किन्तु भेदज्ञानरूपी दीपक प्रगट हुआ है, उस दीपक के प्रकाश द्वारा पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करके आत्मा में स्थित हुए हैं, प्रशांत आत्मा हुए हैं, उन्हें भविष्य में अल्पकाल में मुक्ति होना है, इससे उन्हीं को यहाँ मोक्षतत्त्व कह दिया है। अभी साक्षात् मोक्षदशा प्रगट नहीं हुई है, उससे पूर्व ही, मोक्ष के कारण का सेवन कर रहे हैं, इसलिए शुद्धोपयोगी मुनि को मोक्षतत्त्व कहा है।

मैं ज्ञान-आनंदस्वरूप आत्मा हूँ, मेरा आनंद कहीं अन्यत्र नहीं है – ऐसा जिसने यथार्थ निर्णय किया है तथा पदार्थों के निर्णय संबंधी व्यामोह को दूर करके उत्सुकता दूर की है और जो स्वरूप में लीन प्रशान्तमूर्ति है, वही सच्चा श्रमण है, श्रमण की ऐसी अंतरंगदशा हो जाती है और वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है। जैसे – मक्खी मिश्री का स्वाद लेने में ऐसी लीन हो जाती है कि वहाँ से हटना नहीं चाहती, मिश्री की भांति आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करने में मुनि का आत्मा ऐसा लीन हुआ है – ऐसा जम गया है कि वहाँ से बाहर निकलने का वह आलसी है, स्वभाव के अपूर्व आनंद में से किंचित् बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता। वे श्रमण स्वरूप के आनंद में तृप्त-तृप्त होने से मानों स्वरूप के बाहर निकलने के आलसी-सुस्त हों, इसप्रकार स्वरूप प्रशांति में मग्न होकर रह रहे हैं। जिसप्रकार किसी भिखारी को बहुत दिनों के बाद मिश्री की डली मिल गई हो और ममता से उसे चूसता रहे, उसीप्रकार यहाँ मुनिराज को पूर्व अनंतकाल में नहीं प्राप्त हुआ, आत्मा के आनंद-अमृतरस का ऐसा अपूर्व अनुभव प्रगट हुआ है कि उसी में वे लीन हो गये हैं, उसमें से बाहर निकलना अच्छा नहीं लगता, स्वभाव के अनुभव में से बाहर निकलने का उन्हें आलस होता है। देखो तो, आचार्यदेव की शैली। जगत के जीव तो धर्म करने के आलसी होते हैं, लेकिन वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाले मुनि तो धर्म से बाहर निकलने के आलसी हैं – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

जिसप्रकार घोर निद्रा में पड़ा हुआ बुलाने से नहीं जागता, उसीप्रकार यहाँ आत्मा की जागृति से स्वरूप की प्रशांति में लीन हुए मुनि चाहे जैसे प्रतिकूलता आये, तथापि स्वरूप के बाहर नहीं निकलते।

उन मुनि का आत्मा स्वरूप में ही अभिमुखरूप से विचरता होने से अयथाचाररहित वर्तता

है। मुनि का आत्मा एक आत्मस्वरूप में ही सन्मुखरूप से वर्तता है, अन्य पदार्थों के सन्मुख नहीं वर्तता। यहाँ तो मोक्षतत्त्व की बात लेना है। स्वरूप के बाहर लक्ष जाकर शुभवृत्ति उठे तो वह मोक्ष से रोकनेवाली है, इससे वह अथाचार प्रवृत्ति है। शुद्धोपयोग प्रगट करके जो एक आत्मस्वरूप में वर्त रहा है, वह अयथाचाररहित है और वह नित्यज्ञानी है – ऐसे सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना चाहिए क्योंकि वह शुद्धोपयोगी श्रमण पुनः प्राण धारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होता और अन्य विकारभावरूप परिणमन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित परिणतिवाला रहता है।

जो स्वरूप की प्रतीति करके उसमें जम गये, ऐसे जम गये कि बाहर निकलने के आलसी हो गये हैं, विकल्परहित प्रशांत-उपशांतरूप हो गये हैं और निजस्वरूप में ही अभिमुखरूप से विचरण करने से अयथाचाररहित वर्तते हैं, स्वरूप से बाहर निकलकर कोई विकल्प ही नहीं उठता तथा जो नित्य ज्ञानी हैं – ऐसी जिनकी दशा हुई है, उन वास्तव में सम्पूर्ण श्रामणवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना। शुभराग का विकल्प उठे, वह भी यथाचार नहीं है। उपवास करना माने और दूसरे दिन सबेरे की खिचड़ी के घंटे गिन रहा हो, वह यथाचार नहीं कहलाता, वह तो शुभभाव नहीं है-अशुभभाव है।

मुनि तो आत्मा के आनंद के रस में तरबतर होकर स्वरूपमंथर हो गये हैं, आहार लिया या नहीं लिया, उसका विकल्प भी नहीं उठता। जैसे गरम घी से भरे हुए तपेले में गरम-गरम पूरन पूरिया डुबोये और वे तरबतर होकर उनमें से घी टपक रहा हो, उसीप्रकार मुनि शुद्धोपयोग द्वारा चैतन्य समुद्र में ऐसे लीन हुए हैं कि अन्तर में आत्मा का आनंद रस टपक रहा है, आत्मा के आनंद में तरबतर हो गये हैं। देखो, यह मोक्ष की तत्परतावाले मुनि की दशा।

अहो, आत्मा में अपूर्व आनंद झरे, ऐसी बात है। जिसप्रकार ग्रीष्म ऋतु के भयंकर ताप में चारों ओर शीतल जल के फव्वारों के बीच बैठकर शांति मानता है, उसीप्रकार यहाँ मुनि को आत्मा के ध्यान में एकाग्र होने से अनंत गुणों में से अमृत के फव्वारे छूटते हैं, आनंद के स्रोत बहते हैं, उनमें विचरता हुआ आत्मा तृप्त-तृप्त हो गया है। संसार के ताप से छूटकर शांति लेने का यह उपाय है।

एक बार एक राजा के मुंह में अमी झरना (थूक आना) बन्द हो गया, इससे मुंह में सूखापन बना रहता था, अमी झरने के बहुत प्रयत्न किये किन्तु सब निष्फल हो गये। अन्त में एक जानकार

ग्रामीण आदमी ने हरी इमली की मालाएँ बनाकर चारों टांग दीं और बीच में राजा को बिठाया, इमली को देखते ही राजा के मुँह में अमी झरने लगा (पानी भर आया), उसीप्रकार आत्मा अनादि से अज्ञान के कारण बाह्य क्रियाकाण्ड में और विकार में भटकता था, वहाँ कभी उसके अनुभव में आत्मा के आनंद का अमृत नहीं झरता था। अनादि से विपरीत उपाय किये और अन्त में उसे ज्ञानी का समागम हुआ, ज्ञानी ने उससे कहा – 'भाई ! आत्मा के आनंद का उपाय सहज है, बाह्योन्मुखता को छोड़कर तू अपने स्वभावोन्मुख हो।' जहाँ यथार्थ भान करके अंतरस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ आत्मानुभव का अमृत झरने लगा। जो मुनि ऐसे आत्मानुभव के अमृत में लीन हुए, वे मुनि ही वास्तव में मोक्षतत्त्व हैं।

यहाँ स्वरूप की रमणता में वर्तते हुए स्वरूप में स्थिर हुए हैं – ऐसे साक्षात् श्रमण को ही मोक्षतत्त्व कह दिया है। वर्तमान में साधक है, तथापि मोक्षतत्त्व कह दिया है। मोक्ष का साक्षात् कारण प्रगट हुआ कि मोक्षतत्त्व हुआ कि मोक्षतत्त्व ही कह दिया है। ऐसी दशा भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य की थी और भगवान श्री पुष्पदंत तथा भूतबलि आदि संत-मुनियों की भी ऐसी दशा था। आज यहाँ के (लाठी के) जिनमंदिर की प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव है और श्रुतपंचमी का दिवस है, महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि के साथ संबंध रखनेवाले महान षट्खण्डागम की पूजा का आज का दिन है। श्री भूतबलि और पुष्पदंत आचार्यदेवों ने उसकी रचना की थी। उनके उपरोक्तानुसार दशा विद्यमान थी। स्वरूप के आनंद में लीन होने से वह दशा प्रगट हुई है।

संसारतत्त्व के वर्णन में द्रव्यलिंगी मुनि को नित्य अज्ञानी और श्रमणाभास कहा था, यहाँ मोक्ष की तैयारीवाले भावलिंगी साधु को नित्य ज्ञानी एवं साक्षात् श्रमण कहा है। जो शुद्धोपयोग में स्थिर हुए वे साक्षात् श्रमण हैं। जहाँ ऐसी दशा प्रगट हुई, वहाँ साधक-साध्य के बीच के भेद को तोड़कर कहते हैं कि मोक्षतत्त्व ही घर आ गया। आत्मा स्वयं मोक्षतत्त्व हो गया। साक्षात् मोक्षदशा तो भविष्य में होना है, किन्तु मोक्ष के कारणरूप दशा प्रगट हो गई, वहाँ उसे वर्तमान में ही मोक्षतत्त्व कहा है। क्योंकि उस आत्मा ने पूर्व के समस्त कर्मों के फल को लीला से नष्ट किया है, कष्ट से नहीं किन्तु लीला से नष्ट किया है। जिसमें कष्ट मालूम हो, वह तो बुरा ध्यान है, उससे धर्म नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का निश्चय करके उसमें लीन होनेवाले मुनिवरों ने सहजमात्र में पूर्व कर्म के फल को नष्ट किया है, आगामी कर्मफल को वे उत्पन्न नहीं करते, इससे पुनः प्राणधारणरूप

दीनता को प्राप्त नहीं होते और विकारीभावोंरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित वृत्तिवाले रहते हैं, इससे वे मुनिजन ही मोक्षतत्त्व हैं।

शरीर को धारण करना, वह दीनता है और चैतन्य की निर्मल आनंददशा प्रगट करके उसमें लीन रहना, वह बादशाही है। आत्मा सदैव नवीन-नवीन विकारभावरूप से परिवर्तित होता रहता था और उसके फल में नवीन-नवीन शरीरों को धारण करनेरूप दीनता को प्राप्त होता था, वह संसारतत्त्व था और आत्मा का भान प्रगट करके उसके आनंद में ही स्थिरता से आत्मा एक भावरूप से स्वरूप में ही स्थिर रहता है और पुनः प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होता - वह जीव ही मोक्षतत्त्व है, मुनि का आत्मा ही अभेदरूप से मोक्षतत्त्व है।

इसप्रकार 271वीं गाथा में संसारतत्त्व का और 272वीं गाथा में मोक्षतत्त्व का वर्णन किया। अब, 273वीं गाथा में मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का वर्णन करेंगे।।272।।

लोगों को खबर नहीं है!

कोई किसी का उपकार नहीं कर सकता, मात्र वैसे भाव कर सकता है।.... अनेक लोग दुनिया से कहते हैं कि हमारा स्वार्थ-त्याग तो देखो! हम दुनिया के लिये मर रहे हैं! अपना बिगाड़कर भी दुनिया को सुधार रहे हैं।—ऐसा कहनेवाले ने सामनेवाले जीवों को पराधीन और निर्माल्य सिद्ध किया; इस बात की लोगों को खबर नहीं है।

—समयसार प्रवचन से

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (4)

नवतत्त्व का ज्ञान सम्यग्दर्शन का व्यवहार है

(वीर सं. 2479 श्रावण शुक्ला 30 मंगलवार)

जिसे आत्मा की शांति और हितरूप कर्त्तव्य करना हो, उसे क्या करना चाहिए ? वह बात चल रही है। प्रथम जीव, अजीव आदि नवतत्त्वों को यथावत् मानना चाहिए, नवतत्त्वों को माने बिना उन नव के विकल्प का अभाव होकर एकरूप वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं होती, और पर्यायदृष्टि में अनेकता है, उसे जाने बिना भी एकरूप स्वभाव की दृष्टि नहीं होती। नवतत्त्वों के विकल्प से एक अभेद आत्मस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान नहीं होते, किन्तु एक अभेद आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसके श्रद्धा-ज्ञान करने से उसमें नवतत्त्वों का रागरहित ज्ञान आ जाता है। प्रथम राग की मंदता होकर, ज्ञान के क्षयोपशम में नवतत्त्वों को यथावत् जानना चाहिए, उन्हें जाने बिना भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव नहीं होता।

नवतत्त्वों में जीव और अजीवतत्त्व तो त्रिकाल हैं, वे मूल द्रव्य हैं और शेष सात तत्त्व क्षणिक अवस्थारूप हैं। पुण्य और पाप क्षणिक अवस्था में होते हैं, वह विकारी अंश है। पुण्य-पाप-आस्रव और बंध - यह चारों तत्त्व अवस्था का स्वतंत्र विकार है, वह त्रिकाली जीव के आश्रय से नहीं होता और न अजीव के आश्रय से भी होता है। यदि त्रिकाली जीव के आश्रय से विकार हो, तब तो जीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व पृथक् नहीं रहेंगे और यदि अजीव के कारण विकार हो तो अजीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व पृथक् नहीं रहेंगे - इसप्रकार नवतत्त्व भिन्न-भिन्न निश्चित नहीं होंगे। इसलिए नवतत्त्वों को यथावत् पृथक्-पृथक् जानना चाहिए।

भगवान आत्मा अनंत चैतन्यशक्ति का पिण्ड, ध्रुव है, शरीरादि अजीव से पृथक् हैं - ऐसा रागसहित विचार से निश्चित करे, उसे जीवतत्त्व का व्यवहारनिर्णय कहा जाता है। इस जगत में एक जीवतत्त्व नहीं है, किन्तु जीव के अतिरिक्त अन्य अजीवतत्त्व भी हैं। जीव में अजीव का अभाव है, किन्तु अजीवरूप से तो वे अजीवतत्त्व भूतार्थ हैं तथा चैतन्य तत्त्व का लक्ष चूककर

अजीव के लक्ष से क्षणिक अवस्था में पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्व का अस्तित्व स्वतंत्र है। यदि अजीव कर्म के कारण विकार होता है - ऐसा माने तो उसने अजीवको और आस्रवादि तत्त्वों को एक माना, इससे नवत्त्व स्वतंत्र नहीं रहे। इसलिए जो ऐसा मानता है कि कर्म के कारण विकार होता है, उसे नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

नवतत्त्वों में पुण्य, पाप और आस्रव - यह तीन कारण हैं और बंध उनका कार्य है। कुदेव और कुगुरु उस बंध तत्त्व में आ जाते हैं। जो पुण्य से धर्म मनाये, आत्मा जड़ का कर सकता है - ऐसा मनाये, वह कुगुरु है, वैसे कुगुरुओं को पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्वरूप से स्वीकार करके उनका आदर छोड़ दे, उसी ने नवतत्त्वों को माना कहा जाता है। कुगुरु पुण्य-पाप-आस्रव और बंधतत्त्व के कर्ता हैं, इससे उन्हें पुण्य-पाप-आस्रव-बंधतत्त्व में जानना चाहिए। विकार में धर्म माननेवाले कुगुरुओं को जो सच्चा माने, वह उनका आदर करे, उसने आस्रवादि तत्त्वों को संवर-निर्जरातत्त्व में मान लिया है, उसने नवतत्त्वों को नहीं जाना है।

सम्यग्दर्शन तो एक चैतन्यतत्त्व के अवलम्बन से ही होता है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके उसके आश्रय से एकाग्रता करने से ही संवर-निर्जरा होते हैं। पुण्य है, वह उदयभाव है, उस उदयभाव से संवर-निर्जरा नहीं होते, तथापि पुण्य को क्षयोपशमभाव माने और उसे संवर-निर्जरा का कारण माने तो उस विपरीत मान्यता का महापाप अनंत संसार का कारण है।

प्रश्न - एक छोटीसी भूल की, उसमें इतना भारी दण्ड ?

उत्तर - चैतन्य भगवान को विकार से लाभ मानना, वह छोटी सी भूल नहीं किन्तु भयंकर अपराध है। मिथ्या मान्यता द्वारा अनंतगुण के पिण्ड, चैतन्य को कुचलकर विकार से लाभ मानता है, वह महान अपराधी है, महान पापी है। जैसे किसी महान वैभवशाली राजा का इकलौता पुत्र हो और सबेरे उसे राजगद्दी होने की तैयारी हो गई हो, उससमय कोई उसका मस्तक काट डाले तो वह कैसा अपराध है ? उसीप्रकार यह चैतन्य राजा अनंतगुणों का स्वामी है, उस चैतन्य सम्राट की निर्मलानंद प्रजा-पर्याय प्रगट होने के समय, उसको विकार से लाभ मानकर निर्मल प्रजा-परिणति को विपरीत मान्यता से कुचल डालता है, वह चैतन्य का महान अपराध है, उस चैतन्यतत्त्व के विरोध के फल में नरक-निगोददशा होती है।

नवतत्त्वों में सातवाँ निर्जरातत्त्व है। अन्तर में आत्मतत्त्व के अवलंबन से निर्मलता की वृद्धि हो, अशुद्धता दूर हो और कर्म खिर जायें, उसका नाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त देह की क्रिया में

या पुण्य में वास्तव में निर्जरा नहीं है। संवर-निर्जरा, वह धर्म है, मोक्ष का कारण है, वह आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है - ऐसे निर्जरातत्त्व को न जाने और पुण्य से निर्जरा होना माने अथवा जड़ की क्रिया से या आहार न लेने से निर्जरा माने, उसे तो व्यवहार से-पर्यायदृष्टि से भी नवतत्त्वों की खबर नहीं है। निर्जरा तो शुद्धता है और पुण्य अशुद्धता है, अशुद्धता के द्वारा शुद्धता नहीं होती। तथापि जो अशुद्धता द्वारा अशुद्धता दूर करना (पुण्य से निर्जरा होना) मानते हैं, उन्होंने निर्जरा आदि तत्त्वों को नहीं जाना है। नवतत्त्व के विकल्परहित चैतन्यद्रव्य के भान सहित एकाग्रता बढ़ने से शुद्धता बढ़े और अशुद्धता दूर हो जाये तथा कर्म खिर जायें - यह निर्जरा है। जिसे ऐसा निर्जरातत्त्व प्रगट हुआ हो, उसे गुरु कहते हैं। संवर और निर्जरा - यह दोनों आत्मा की निर्मल पर्यायें हैं, वह धर्म है।

संवर-निर्जरा मोक्ष का साधन है, ऐसे संवर-निर्जरा के फल में जिन्होंने पूर्ण परमात्मदशा प्रगट की है, वे देव हैं और संवर-निर्जरारूप साधकदशा जिनके प्रवर्तमान है, वे गुरु हैं तथा वह संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव स्वयं धर्म हैं। इसप्रकार नवतत्त्व की और देव-गुरु-धर्म की पहिचान करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। 'तप से निर्जरा होती है' - ऐसा शास्त्र में है, वहाँ लोग आहार का त्याग किया, वह तप और उससे निर्जरा हुई - ऐसा बाह्य दृष्टि से मान लेते हैं, उन्हें यह भी भान नहीं है कि तप क्या है और निर्जरा क्या है। तप से निर्जरा होती है - यह बात सत्य है, लेकिन उस तप का स्वरूप क्या है ? बाह्य तप से निर्जरा धर्म नहीं होता, किन्तु अंतर में चैतन्यस्वरूप का भान करके उसमें एकाग्र होने से सहज ही इच्छा का निरोध हो जाता है, वह तप है और उससे निर्जरा होती है। सम्यक्रूप से चैतन्य का प्रतपन, सो तप है। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे सच्चा तप नहीं होता। जो पुण्य से या शरीर की क्रिया से संवर-निर्जरा मानते हैं, उनहें तो, नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले अभव्य जीव को नवतत्त्व की जैसी श्रद्धा अनंत बार होती है, वैसी व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जो पुण्य को क्षयोपशमभाव माने और उसे धर्म का कारण माने, उसने पुण्यतत्त्व को या धर्मतत्त्व को नहीं जाना और न उसे धर्म होता है।

आत्मा में शुद्धता की वृद्धि हुए बिना, कर्म अपने आप पककर खिर जायें, वह सविपाक निर्जरा है, वह निर्जरा तो सभी जीवों के होती है, उसमें धर्म नहीं है, और आत्मा के भान बिना ब्रह्मचर्य, दया इत्यादि शुभभाव से कुछ अकामनिर्जरा हो, उसकी गिनती भी धर्म में नहीं होती। लेकिन आत्मा में नवतत्त्व का भान करके एक स्वभाव के आश्रय से शुद्धता में वृद्धि हो और अशुद्धता तथा कर्म दूर हों, वह निर्जरा, मोक्ष का कारण है।

आठवाँ बंधतत्त्व है। विकारभाव में जीव का बंध जाना-अटक जाना, वह बंधतत्त्व है। किसी पर के कारण जीव को बंधन नहीं होता, किन्तु अपनी पर्याय विकारभाव में रुक गई है, वही बंधन है। पुण्य-पाप के भावों से आत्मा छूटता नहीं है, किन्तु बंधता है, इससे वे पुण्य-पाप बंधतत्त्व के कारण हैं। उसके बदले पुण्य को धर्म का साधन माने अथवा उसे अच्छा माने तो वह बंध आदि तत्त्वों के स्वरूप को नहीं समझा है। दया, पूजादि शुभभाव अथवा हिंसा, चोरी आदि अशुभभाव, वह विकार हैं, उसके द्वारा आत्मा छूटता नहीं है, किन्तु बंधता है। पुण्य और पाप - यह दोनों भाव मलिन भाव हैं, बंधनभाव हैं। इस समय पुण्य किया जाये तो भविष्य में योग्य सामग्री प्राप्त होगी और योग्य सामग्री प्राप्त हो तो धर्म करने की अनुकूलता हो - ऐसा जिसने माना, उसने पुण्य को वास्तव में बंधतत्त्व नहीं जाना। वास्तव में तो पुण्यभाव के कारण बाह्य सामग्री प्राप्त नहीं होती, क्योंकि पुण्य अलग वस्तु है और अजीव सामग्री अलग स्वतंत्र वस्तु है। पुण्य और बाह्य सामग्री का मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। इस निमित्त-नैमित्तिक संबंध का जो अस्वीकार करता है, उसे भी पुण्यतत्त्व की व्यवहार से सच्ची श्रद्धा नहीं है। बाह्य अनुकूल सामग्री द्वारा जीव को धर्म करने में ठीक रहता है - इस मान्यता से भी जीव और अजीव की एकता की बुद्धि है। प्रथम भिन्न-भिन्न नव तत्त्वों को जाने बिना अभेद आत्मा की प्रतीति नहीं होती और उस प्रतीति के बिना धर्म नहीं होता।

त्रिकाली जीवतत्त्व के कारण बंध नहीं है और अजीवतत्त्व के कारण भी बंध नहीं है। बंधतत्त्व त्रिकाली जीवतत्त्व से भिन्न है और अजीव से भी भिन्न है। बंध परलक्ष से होनेवाली क्षणिक विकारी वृत्ति है, वह स्वतंत्र है। बंधतत्त्व त्रिकाली नहीं है, किन्तु क्षणिक आत्मस्वभाव से च्युत होकर जो मिथ्यात्वभाव हों, उन्हें और आत्मा का भान होने के पश्चात् भी जो रागादिभाव हों, उन्हें बंधतत्त्व जाने और कुतत्त्वों का कथन करनेवाले कुदेव-कुगुरुओं को भी बंधतत्त्व में जाने, तब बंधतत्त्व को जाना कहलाता है। श्री अरिहंत भगवान द्वारा कथित और यथार्थ वस्तुरूप इन नव तत्त्वों को भी जो न समझे और कुतत्त्वों को माने, उसने वास्तव में अरिहंत भगवान को नहीं पहिचाना और न वह अरिहंत का भक्त है।

हे भाई ! यदि तू ऐसा कहता हो कि मैं अरिहंतदेव का भक्त हूँ, मैं अरिहंत प्रभु का दास हूँ, तो श्री अरिहंतदेव के कहे हुए नवतत्त्वों को बराबर जान और उससे विरुद्ध कहनेवाले कुदेव-कुगुरु का सेवन छोड़ दे। भगवान ने नवतत्त्व जिसप्रकार कहे हैं, उसप्रकार तू उन्हें व्यवहार से भी न जाने तो तूने अरिहंत भगवान को नहीं माना है, तू व्यवहार से भी अरिहंत भगवान का भक्त नहीं है।

व्यवहार से भी अरिहंत भगवान का भक्त वह कहलाता है कि जो उनके कहे हुए नव तत्त्वों को जाने और उनसे विरुद्ध कहनेवालों को बिलकुल माने ही नहीं। नवतत्त्वों को जानने में भी अनेकता का भेद का लक्ष है, जबतक उस भेद के लक्ष से रुके, तबतक व्यवहारश्रद्धा है, किन्तु परमार्थश्रद्धा नहीं है, जब उस अनेकता का लक्ष छोड़कर अभेद स्वभाव की एकता के आश्रय से अनुभव करे, तब परमार्थ सम्यक्दर्शन होता है और तभी जीव अरिहंतदेव का सच्चा भक्त अर्थात् जिनेश्वर का लघुनंदन कहलाता है।

जीव स्वयं बंधनभाव में रुके, उसमें उसे अजीव का निमित्तपना है। अकेले चैतन्य में, अजीव के निमित्त के बिना भी यदि बंधन हो तो वह स्वभाव हो जाये। अकेले चैतन्य में स्वभाव से बंधन नहीं होता, किन्तु चैतन्य की उपेक्षा करके अजीव के लक्ष में रुके, तब बंधन भाव होता है। अवस्था में क्षणिक बंधनतत्त्व है – ऐसा जानना चाहिए।

अहो ! अनेक जीव बाहर के झंझटों में ही समय बिता देते हैं, किन्तु अन्तर में तत्त्व को समझने की दरकार नहीं करते और न उसे समझने के लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम करते हैं! उनको मनुष्य भव प्राप्त करने से क्या लाभ हुआ ? अरे भगवान ! अनंतकाल में सत् को सुनने और समझने का अवसर आया है, इसलिए आत्मा की चिंता करके समझ ले। ऐसा विचार करता रहेगा तो सत् समझने का सुअवसर चला जायेगा और फिर अनंतकाल में भी ऐसा अवसर प्राप्त होना महंगा है। लक्ष्मी टीका करने आये, उस समय मुँह धोने के लिए नहीं जाते; उसीप्रकार यह सत् समझने और चैतन्यलक्ष्मी को प्राप्त करने का अवसर आया है – अपूर्व कल्याण प्रगट करने का अवसर आया है, इस समय 'फिर करेंगे, फिर करेंगे' ऐसा नहीं कहा जाता। यदि इस समय दरकार करके सत् को नहीं समझेगा तो फिर कब ऐसा सुअवसर प्राप्त होगा ? इसलिए प्रथम नवतत्त्वों को जानना चाहिए।

नवतत्त्वों में से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और बंध – इन आठ तत्त्वों का वर्णन हो गया है, अब नवमां मोक्षतत्त्व है। आत्मा की अनंतज्ञान और आनंदमय पूर्ण शुद्ध दशा हो, वह मोक्षतत्त्व है। जो ऐसे मोक्षतत्त्व को पहिचान ले, वह सर्वज्ञदेव को जान लेता है। इससे वह कुदेवादि को नहीं मानता। जो कुदेवादि को मानता है, उसने मोक्षतत्त्व को नहीं जाना है। मोक्ष आत्मा की पूर्ण निर्मल रागरहित दशा है, उस मोक्षतत्त्व को जानने से अरिहंत और सिद्ध भगवान की भी प्रतीति होती है। अरिहंत भगवान अजीव वाणी को ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीवों

की योग्यतानुसार उसे छोड़ते हैं – इसप्रकार जो केवली भगवान को अजीव का ग्रहण–त्याग मानते हैं, उन अरिहंत का स्वरूप नहीं समझा है। मोक्षतत्त्व को जाने बिना नवतत्त्व ज्ञात नहीं होते और नवतत्त्वों को जाने बिना धर्म नहीं होता।

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव शक्तिरूप से अनंत केवलज्ञान–दर्शन–सुख और वीर्य से परिपूर्ण है, वे देव हैं और उन्हीं को मोक्षतत्त्व प्रगट हुआ है। ऐसी मुक्तदशा प्रगट होने के पश्चात् जीव को पुनः कभी अवतार नहीं होता। अज्ञानी जीव आत्मा के रागरहित स्वभाव को नहीं जानते और मंदकषायरूप शुभराग को ही वे धर्म मान लेते हैं। उस शुभराग के फल में स्वर्ग का भव होता है। वहाँ रहने की स्थिति बहुत लम्बी होती है, इससे अज्ञानी उसी को मोक्ष मान लेते हैं। उस स्वर्ग में से पुनः अवतार होता है, इसलिए अज्ञानीजन मोक्ष होने के पश्चात् भी अवतारों का होना मानते हैं। जीव की मुक्ति हो जाने के पश्चात् पुनः अवतार होता मानें, वे जीव मोक्षतत्त्व को नहीं जानते हैं, लेकिन बंधतत्त्व को ही मोक्षतत्त्वरूप से मानते हैं। अवतार का कारण तो बंधन है, उस बंधन का एक बार सर्वथा नाश हो जाने के पश्चात् पुनः अवतार नहीं होता। आत्मा की पूर्ण चिदानंददशा हो गई, उसका नाम मोक्षदशा है, वह मोक्षदशा होने के पश्चात् फिर से अवतार अर्थात् संसारपरिभ्रमण नहीं होता। वे मुक्त हुए परमात्मा किसी को जगत के कार्य करने के लिए नहीं भेजते और न जगत के जीवों को दुःखी देखकर या भक्तों का उद्धार करने के लिए संसार में अवतार धारण करते हैं, क्योंकि उनके रागादि भावों का अभाव है। जगत में जीवों को दुःखी देखकर भगवान अवतार धारण करते हैं – ऐसा जो मानते हैं, वे भगवान–मुक्त आत्मा को रागी और पर का कर्त्ता सिद्ध करते हैं। उन्होंने मुक्त आत्मा को नहीं जाना है। पुर्नभवरहित मोक्षतत्त्व को प्राप्त हुए श्री सिद्ध और अरिहंत परमात्मा देव हैं, जो उनको न पहिचाने, उसे सच्चा पुण्य भी नहीं होता।

अक्षर–अविनाशी चैतन्य की पूर्णानन्ददशा मोक्षतत्त्व है। वह दशा प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीव को किसी की सेवा करना नहीं होता। पूर्ण ज्ञान–आनंददशा को प्राप्त हुए अरिहंत परमात्मा शरीरसहित होने पर भी वीतराग हैं, उनके पूर्ण ज्ञान–आनंद होता है, उनके शरीर में रोग नहीं होता, दवा नहीं होती, क्षुधा नहीं लगती, आहार नहीं होता और न वे किसी को वंदन करते हैं। उनका शरीर स्फटिक जैसा स्वच्छ–परमौदारिक हो जाता है तथा आकाश में 500 धनुष ऊँचे विचरते हैं। ऐसे अरिहंत परमात्मा को जो न माने, उसने तो मोक्षतत्त्व को व्यवहार से भी नहीं जाना है। श्री

केवली भगवान को अनंत ज्ञान और अनंत आनंद प्रगट हुआ, वहाँ चार घातिकर्म तो नष्ट हो गये हैं और चार अघाति कर्म शेष रह गये हैं, किन्तु वे जली हुई डोरी के समान हैं। जिसप्रकार जली हुई डोरी बांधने के काम नहीं आती, उसीप्रकार जो चार अघातिकर्म शेष रहे हैं, वे जली हुई डोरी के समान हैं, उनसे कहीं अरिहंत भगवान को क्षुधा या रोगादि नहीं होते। ऐसे अरिहंत भगवान जीवन्मुक्त हैं और शरीर रहित परमात्मा हो जायें तो सिद्ध हैं। उनकी जिन्हें पहिचान हो उन्हें व्यवहार से नवतत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। नवतत्त्वों में मोक्षतत्त्व की श्रद्धा करने से उसमें अरिहंत और सिद्धा की श्रद्धा भी आ जाती है।

इसप्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ऐसे नवतत्त्व अभूतार्थनय से (व्यवहारनय से) विद्यमान हैं, अर्थात् पर्यायदृष्टि से देखने पर वे नवतत्त्व विद्यमान हैं। उन नवतत्त्वों को जाने बिना चैतन्यतत्त्व की सीढ़ी तक नहीं पहुँचा जा सकता और यदि नवतत्त्वों के विकल्प में भी रुका रहे तो भी अभेद चैतन्य का अनुभव नहीं हो सकता। अभेद चैतन्य के अनुभव के समय नवतत्त्वों के विकल्प नहीं होते, इसलिए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं–अविद्यमान हैं। त्रिकाली तत्त्व का स्वरूप ऐसा नहीं है कि उसमें नव तत्त्वों के विकल्प बने ही रहें। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से तो एक चैतन्यमूर्ति आत्मा ही प्रकाशमान है – ऐसे चैतन्य में एकता प्राप्त हो, वह सम्यग्दर्शन है। प्रथम अभेद के लक्ष की ओर जाते हुए नवतत्त्व के विकल्प आते अवश्य हैं, लेकिन उन नवतत्त्वों के विकल्प की ओर की उन्मुखता बनी रहे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। नवतत्त्वों के भेद का आलंबन छोड़कर अभेद चैतन्य की ओर उन्मुख होकर एकता प्रगट करना, वह नियम से सम्यग्दर्शन है।

नवतत्त्व भिन्न–भिन्न हैं, उनमें अनेकता है, उस अनेकता का लक्ष राग का कारण है, इसलिए 'नवतत्त्वों की श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है' – ऐसा नियम नहीं कहा। उन नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करनेवाला शुद्धनय है, उस शुद्धनय से एकरूप आत्मा का अनुभव करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है। 'भूतार्थनय से नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करना' – इसका अर्थ यह है कि – नवतत्त्वों के भेद का लक्ष छोड़कर, भूतार्थनय से एकरूप आत्मा को लक्ष लेना। भूतार्थनय में नवतत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु एकरूप ज्ञायक आत्मा ही दिखाई देता है। कहीं नवतत्त्वों के सन्मुख देखने से उनमें एकत्व नहीं होता, नवतत्त्वों के सन्मुख देखने से तो राग की उत्पत्ति होती है। नवतत्त्वों के भेद का

लक्ष छोड़कर अभेद चैतन्य को शुद्धनय से जानने पर, नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट किया कहा जाता है।

भेदरूप नवतत्त्वों को यथावत् जाना, वहाँ तक तो आंगन आया, उस आंगन में आने के पश्चात् अब, वहाँ से आगे बढ़कर चैतन्यगृह में जाने और शुद्धस्वभाव की प्रतीति तथा अनुभव करने की बात है, यानी अनादिकालीन मिथ्यात्व को दूर करके अपूर्व सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो – उसकी यह बात है। यहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

नवतत्त्व तो अभूतार्थनय से ही विद्यमान हैं, भूतार्थनय से अभेदस्वभाव में एकत्व प्रगट करने से वे नवों तत्त्व अभूतार्थ हैं। ज्ञायक चैतन्य हूँ – ऐसे अंतर में विद्यमान स्वभाव के आश्रय की दृष्टि से एक आत्मा का अनुभव होता है। शुद्धनय से ऐसा अनुभव होने पर अनादिकालीन मिथ्यात्व दूर होकर अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और धर्म का प्रारम्भ होता है।

नवतत्त्वों को अभूतार्थ कहा, उसमें जीवतत्त्व भी आ गया, यानी जीवतत्त्व को भी अभूतार्थ कहा – वह किस प्रकार ? शुद्ध जीवतत्त्व है, वह तो भूतार्थ है, किन्तु 'मैं जीव हूँ' – ऐसा जीव संबंधी विकल्प उठे, वह अभूतार्थ है, उस विकल्प के द्वारा जीवस्वभाव का अनुभव नहीं हो सकता, इसलिए 'मैं जीव हूँ' – ऐसे रागमिश्रित विकल्प को जीवत्व के रूप में गिनकर उसे यहाँ अभूतार्थ कहा है – ऐसा समझना चाहिए।

नव तत्त्वों में अनेकता है, उनके विचार में अनेक समय लगते हैं, एक समय में एक ही साथ नवों तत्त्वों के विकल्प नहीं होते, उन नवतत्त्वों के लक्ष से राग की उत्पत्ति होती है और अंतर में चैतन्य की एकता का अनुभव एक समय होता है। प्रथम अभेद चैतन्यस्वभाव में अंतरमुख होकर श्रद्धा से चैतन्य में एकत्व प्रगट करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय तो नवतत्त्व के भेद से आत्मा का अनेकत्व प्रगट करता है, उस अनेकत्व प्रगट करनेवाले नय से चैतन्य के एकत्व की प्राप्ति नहीं होगी और चैतन्य के एकत्व की प्राप्ति के बिना रागरहित आनंद का अनुभव नहीं होता – सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। भूतार्थनय नवतत्त्व के विकल्प से रहित चैत्न्य का एकत्व प्रगट करनेवाला है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। नव तत्त्वों की श्रद्धा चैतन्य का एकत्व प्रगट नहीं करती और न उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। नवतत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के व्यवहाररूप से स्थापित किया गया है, किन्तु उसके द्वारा अभेदस्वभाव में एकता नहीं होती। अभेदस्वभाव के आश्रय से ही आत्मा का एकत्व प्राप्त होता है। अभेदस्वभाव के आश्रय से आत्मा में एकत्व प्राप्त करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वही प्रथम धर्म है।

मोक्षतत्त्व का साधन (4)

श्री प्रवचनसार गाथा 273 पर लाठी में वीर सं. 2476के
ज्येष्ठ शुक्ला 6-7 के दिन पूज्य श्री कानजी स्वामी के
प्रवचन का संक्षिप्त सार

271वीं गाथा में संसारतत्त्व का और 272वीं गाथा में मोक्षतत्त्व का वर्णन किया। उस मोक्ष तत्त्व का साधन क्या है, वह अब 273वीं गाथा में कहेंगे।

जो परपदार्थ हैं, सो मैं ही हूँ और विकार जितना ही मैं हूँ - ऐसी विपरीत मान्यतावाला जीव, सो संसारतत्त्व है। आत्मा नित्य ज्ञानानंदस्वरूप है, वह शरीरादि पर से भिन्न है और रागादि उसका स्वभाव नहीं है, ऐसे आत्मा को भूलकर, उसकी अवस्था में जो यह शरीर और विकार है, सो मैं ही हूँ - उसी मिथ्या मान्यतापूर्वक राग-द्वेष के भाव सो संसार हैं। संयोग का संसार नहीं है। आत्मा के पवित्र स्वरूप से च्युत हो जाना और विकार में रहना, उस भाव को संसार कहते हैं और जिस आत्मा में विकाररहित पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हुई हो तो वह आत्मा स्वयं मोक्ष तत्त्व है। आत्मा के स्वभाव को जानकर उसमें जो लीन हुए हैं, ऐसे शुभोपयोगी मुनि को मोक्षतत्त्व कहा है। संसारतत्त्व और मोक्षतत्त्व आत्मा से बाहर नहीं हैं, किन्तु मिथ्यात्वभाव वाला आत्मा, सो संसारतत्त्व है और पवित्र निर्दोषभाव वाला आत्मा, सो मोक्षतत्त्व है। उस मोक्षतत्त्व का साधन कहीं बाह्य में नहीं है, किन्तु आत्मा में ही है। उस मोक्षतत्त्व का वर्णन करते हैं -

सम्म विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥273॥

जाणी यथार्थ पदार्थ ने, तजी संग अंतर्बाह्यने।
आसक्त नहि विषयो विषे जे, 'शुद्ध' भाख्या तेमने ॥273॥

श्री आचार्यदेव ने प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथाओं को पाँच रत्नों की उपमा दी है, उनमें यह तीसरा रत्न है।

इसमें सर्वप्रथम पदार्थ को यथार्थ जानने की ही बात की है। पदार्थ को यथार्थ जाने बिना कभी मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। सकल महिमावंत भगवंत शुद्धोपयोगी मुनि ही मोक्षतत्त्व का साधन तत्त्व हैं। वे मुनि कैसे हैं – उसका वर्णन करते हैं। प्रथम तो, 'अनेकान्त द्वारा ज्ञात होता जो सकल ज्ञातृतत्त्व का और ज्ञेयतत्त्व का स्वरूप, उसके पांडित्य में प्रवीण हैं।'

अनेकान्त का अर्थ क्या ? वस्तु अपने रूप से है और पर रूप से नहीं है – ऐसा जानना, सो अनेकान्त है। आत्मा आत्मारूप है और शरीररूप नहीं है, इसलिए वह शरीरादि का कुछ नहीं कर सकता – ऐसा जानना, सो अनेकान्त है। किन्तु शरीरादि पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ और उस क्रिया से मुझे लाभ-हानि होते हैं – ऐसा माने तो उसने आत्मा और शरीर को भिन्न न मानकर दो पदार्थों को एक माना, इससे वह एकान्त है। शरीर की या पर की क्रिया आत्मा करता है – ऐसा माना, उसका तो यह अर्थ हुआ कि वह परपदार्थ पररूप है और मेरे रूप भी है तथा आत्मा अपने रूप है और पररूप भी है – ऐसी मान्यता, सो मिथ्यात्व है। ऐसी मिथ्यामान्यतावाले जीव को मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। पररूप हुए बिना आत्मा पर का नहीं कर सकता। आत्मारूप जो वस्तु नहीं है अर्थात् जिस वस्तु में आत्मा का अभाव है, उस वस्तु में आत्मा के कारण परिवर्तन नहीं होता। इसप्रकार अनेकांत ज्ञान द्वारा आत्मतत्त्व को और समस्त ज्ञेय पदार्थों को मुनियों ने यथार्थ जाना है। उन्हें जाने बिना मोक्ष का साधन जो शुद्धोपयोग है, वह प्रगट नहीं होता। अनेकान्त से जब समस्त स्व-परपदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करे, तब तो संसार से छूटने का प्रथम उपाय प्रगट होता है।

प्रत्येक तत्त्व अपने रूप से है और पररूप से नहीं है, इसलिए पर के अभाव से ही प्रत्येक तत्त्व बना हुआ है, प्रत्येक तत्त्व अपने से परिपूर्ण है और अपने से ही टिका हुआ है, पर के आधार से कोई तत्त्व स्थिर नहीं रहता। इसप्रकार स्व और परपदार्थ की भिन्नता तथा स्वतंत्रता का अनेकान्तज्ञान द्वारा निर्णय करे, वही सच्चा पाण्डित्य है। अनेक शास्त्र पढ़ लेना, सो पाण्डित्य है – ऐसा नहीं कहा, किन्तु स्व-पर का विवेक प्रगट करना ही सच्चा पाण्डित्य है। वह विवेक प्रगट किये बिना सब शास्त्र-अध्ययन मिथ्या हैं।

आत्मतत्त्व अपने से अस्तिरूप है और पर के अभावरूप है, इसलिए परवस्तुओं के बिना ही उसका त्रिकाल निभ रहा है। तथापि मेरा तत्त्व पर के आश्रयवाला है, परवस्तु के बिना मेरा नहीं

चल सकता - ऐसी मिथ्या-मान्यता अनादिकाल से बना रखी है, उसके बिना अज्ञानी ने अनादिकाल से नहीं चलाया। मैं पर से भिन्न हूँ, मेरा तत्त्व पर के आश्रय बिना ही टिका हुआ है - ऐसा समझ लेने पर सम्यक्त्व प्रगट होने से जीव मिथ्यात्व के बिना निभाता है। सम्यक्त्व प्रगट हुआ, इसलिए मिथ्यात्व का अभाव हो गया, तथापि अभी अस्थिरता के कारण राग-द्वेष के भाव होते हैं। मिथ्यात्व के बिना चलाता है, किन्तु आसक्तिभाव के बिना नहीं चलाता, यदि उस आसक्ति के राग-द्वेषभाव बिना भी चलाये तो चारित्रदशा प्रगट हो। आत्मा का भान होने पर भी जबतक राग-द्वेष के विकल्प हों, तबतक शुद्ध उपयोग नहीं होता। जो शुद्ध आत्मस्वरूप का भान हुआ है, उसके अनुभव में स्थिर होने से आसक्ति के राग-द्वेषभाव भी छूटकर शुद्धोपयोग प्रगट होता है, उसका नाम चारित्रदशा है। ऐसी दशावाले मुनि को मोक्ष का साधन तत्त्व कहा जाता है। शुद्धोपयोग मोक्ष का साधन है, वह शुद्धोपयोग जिसके प्रगट हुआ है - ऐसे शुभोपयोगी मुनि को ही यहाँ अभेदरूप से मोक्षतत्त्व का साधन कहा है।

आत्मा का यथार्थ भान प्रगट करने के पश्चात् उसके विशेष अनुभव में लीन होकर शुद्धोपयोग प्रगट करनेवाले उन मोक्षमार्गी मुनियों की दशा का विशेष वर्णन करते हैं।

अंतरंग में जगमगाते हुए चैतन्य से भास्कर (तेजस्वी) आत्मतत्त्व के स्वरूप को समस्त बहिरंग तथा अंतरंग संगति के परित्याग द्वारा विविक्त (भिन्न) किया है और (उससे) अंत:तत्त्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूपगुप्त और सुषुप्तसमान (प्रशांत) रहने के कारण वे विषयों में किंचित् आसक्ति नहीं करते' - ऐसी दशावाले सफल महिमावंत शुद्धोपयोगी मुनि भगवंत उग्र पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं, इससे वे ही मोक्षतत्त्व का साधन है - ऐसा जानना। बाह्य में वस्त्रादि का संग नहीं है और अंतर में राग-द्वेष की वृत्ति का संग नहीं है, शुद्धात्मा के अनुभव में चैतन्यपिण्ड पृथक् अनुभव में आता है और परिणति स्वरूप में स्थिर हो गई है, इसलिए विषयों में किंचित्मात्र आसक्ति नहीं रही है - ऐसी मुनिदशा, वह मोक्ष का साधन है। इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एकसाथ आ जाते हैं।

272वीं गाथा में श्रमण को 'स्वरूपमंथर' कहा था अर्थात् स्वरूप में ऐसे जम गये हैं कि बाहर निकलने के आलसी हैं। यहाँ 273वीं गाथा में कहते हैं कि शुद्धोपयोगी मुनि के आत्मा की परिणति 'स्वरूपगुप्त और सुषुप्तसमान' है। उनकी परिणति आत्मा में ऐसी लीन हो गई है कि मानों

सो गई हो। जिसप्रकार निद्रा में पड़े हुए मनुष्य को बाहर का कुछ भान नहीं रहता, उसीप्रकार मुनि की परिणति आत्मस्वरूप में ऐसी सो गई है – ऐसी लीन हुई है कि बाह्य में कहीं विकल्प भी नहीं उठता। देखो, इसका नाम मोक्ष का साधन है। इस दशा के भान बिना लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में और व्रत-तप के शुभराग में मोक्षमार्ग मान रहे हैं, वह यथार्थ नहीं है।

आत्मा का स्वभाव सर्व को जानने का है, इसलिए वह ज्ञातृतत्त्व है और समस्त वस्तुएँ ज्ञेय हैं। पुण्य-पाप – दोनों अशुद्ध हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार उसका भी भान करके, मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वभाव हूँ – ऐसी प्रथम श्रद्धा किये बिना मोक्ष का साधन प्रगट नहीं होता। शरीरादि वस्तुएँ मुझसे पर हैं और मेरी अवस्था में होनेवाले पुण्य-पाप दोनों अशुद्धभाव हैं, मेरा मूल स्वभाव शुद्ध चैतन्यरूप है – ऐसी सम्यक्श्रद्धा और सच्चा ज्ञान करने से अंशतः शुद्धता हुई, किन्तु अभी पुण्य-पाप के विकल्प दूर करके स्वरूप में स्थित न हो, तब तक शुद्धोपयोग नहीं होता, स्वरूप में लीन होने से शुद्धोपयोग प्रगट होता है, वही मोक्ष का साधनतत्त्व है।

अज्ञानीजन शुभ उपयोग को मोक्ष का कारण मानते हैं, किन्तु शुभ उपयोग तो पुण्यबंध का कारण है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो शुद्धोपयोग ही है।

राग-द्वेष रहित ज्ञायक आत्मतत्त्व का निर्णय करके जो उसके अनुभव में लीन हुए हैं, वे मोक्ष के साधक हैं, इसलिए वही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व है। गृहस्थपने में स्थित आत्मा को आत्मभान प्रगट करके सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप धर्म होता है, परन्तु चारित्रदशा प्रगट हुए बिना उसे मोक्ष का साधन पूर्ण हुआ नहीं कहलाता। श्री भरत चक्रवर्ती अरबों वर्ष तक राजपाट में रहे, उस समय उन्हें अंतर में आत्मा का भान था। क्षायिक सम्यक्त्व था, किन्तु चारित्रदशा नहीं थी। अस्थिरता के राग-द्वेष थे, इसलिए चारित्रदशा नहीं थी। एक बार दर्पण में देखते समय मुँह पर झुर्रिया देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और राजपाट का राग छोड़कर दीक्षा लेकर मुनि हो गये, उसी समय आत्मा के अनुभव में एकाग्र होने से शुद्धोपयोग चारित्र प्रगट हुआ। ऐसी शुद्धोपयोगी दशा, सो साक्षात् मोक्षमार्ग है। पुण्य और पाप दोनों अशुद्ध भाव हैं-अशुद्ध व्यापार हैं और उस भाव रहित आत्मा के स्वरूप में स्थिर होना, वह शुद्धभाव है, शुद्ध व्यापार है, मोक्ष का साधन है।

महिमावंत शुद्ध उपयोगी मुनिवर अनादि संसार से रचित विकट कर्मपाट को तोड़ने का अति उग्र प्रयत्न द्वारा पराक्रम प्रगट कर रहे हैं, इससे उन मुनि भगवंतों को मोक्षतत्त्व का साधन

तत्त्व जानना। शुद्धोपयोग द्वारा स्वरूप में लीन होनेवाले मुनि अनादिकाल के निद्धत और निकाचित कर्मों को भी क्षणभर में तोड़ डालते हैं। जिसप्रकार जमशेदपुर के लोहे के कारखाने की बड़ी भट्टी में लोहे का गोला भी मोम की भांति पिघल जाता है, उसीप्रकार यहाँ मुनिवरों ने 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' – ऐसा भान करके स्वरूप के ध्यान द्वारा शुद्धोपयोगरूपी अग्नि प्रकट की है, उसमें अनादिकाल के निद्धत और निकाचित कर्म भी जलकर भस्म हो जाते हैं। इसप्रकार मुनि अनादि के कर्मकपाट को तोड़ने का अति उग्र प्रयत्न कर रहे हैं, वास्तव में अपनी ज्ञानशक्ति अनादि से संकुचित हैं, उसे केवलज्ञानरूप से प्रगट करने का उग्र प्रयत्न कर रहे हैं, कर्म की बात निमित्त से की है। शुद्धोपयोगी मुनि कर्मकपाट को तोड़ने का जो अति उग्र प्रयत्न कर रहे हैं, वही सच्चा पराक्रम है। मोक्ष के हेतुरूप अति उग्र प्रयत्न को ही यहाँ पराक्रम कहा है। संसार में जो लौकिक पराक्रम है, वह कहीं सच्चा पराक्रम नहीं है। जिसप्रकार बहुत काल से बन्द गुफा के वज्र-कपाटों को चक्रवर्ती तोड़ डालते हैं, उसीप्रकार चैतन्यचक्रवर्ती भगवंत शुद्धोपयोगी मुनि शुद्धोपयोग द्वारा अनादिकालीन कर्मकपाट को तोड़ने का अति उग्र प्रयत्न कर रहे हैं। मानों केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है या करेंगे। इसी को मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व कहा जाता है।

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति करके उसमें स्थिर हो तो अनादि से बंधे हुए विकट कर्म भी टूट जाते हैं। कर्म का बल है और कर्म नहीं टूटेगा – ऐसी बात ही नहीं ली है, किन्तु कर्म कपाट को तोड़ने के अति उग्र प्रयत्न द्वारा पराक्रम प्रगट करने की ही बात ली है। जो शुद्धोपयोग द्वारा अनादिकालीन कर्मों को तोड़ने का और केवलज्ञान प्रगट करने का उग्र प्रयत्न कर रहे हैं – ऐसे सकल महिमावंत भगवंत शुद्ध उपयोगी मुनि – वह मोक्ष का साधनतत्त्व है। यही एक मोक्ष का साधन है, दूसरा कोई साधन नहीं है।

इसप्रकार 271वीं गाथा में संसारतत्त्व का, 272वीं गाथा में मोक्षतत्त्व का और 273वीं गाथा में मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का वर्णन किया। अब, श्री आचार्य भगवान मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का 'सर्व मनोरथ के स्थानरूप' से अभिनंदन करते हैं, यह बात 274वीं गाथा में आयेगी।।273।।

सिद्धत्व के लक्ष से साधकत्व का प्रारम्भ

आत्मस्वभाव के इस अपूर्व प्रारम्भ को समझे बिना जीव अनंत बार पुण्य के फल में नवमें ग्रैवेयक तक गया। 'मैं स्वाधीनस्वरूप हूँ, पराश्रयरहित हूँ' – इसे भूलकर जैन के महाव्रतादि भी किए, वस्त्र का एक धागा भी न हो – ऐसी नग्न दिगंबरदशा धारण करके उस शुभभाव सहित अनंत बार पंचमहाव्रत का पालन किया, उत्कृष्ट तप किए, कोई अग्नि में डालकर जला दे, तथापि किंचित्मात्र क्रोध न करे – ऐसी क्षमा शुभभावपूर्वक रखी, तथापि सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि ऐसा अनंतबार करने पर भी धर्म नहीं हुआ। मात्र वैसे उच्च पुण्य करके अनंत बार स्वर्ग में गया। किन्तु मैं पर से निराला हूँ, पुण्य-पाप की जो वृत्तियाँ उठती हैं, उनसे परमार्थतः पृथक् हूँ, मन की-राग की सहायता से मैं शुद्धदशा प्रगट नहीं कर सकता – ऐसी स्वरूप की पूर्ण स्वाधीनता की बात नहीं जमी।

इससे यहाँ समयसार शास्त्र के प्रारम्भ में आचार्यदेव सर्व सिद्धों की भाव तथा द्रव्य स्तुति करके, अपने और पर के आत्मा की सिद्ध समान स्थापना करके उसका विवेचन करते हैं... किसी को यह बात बड़ी मालूम हो, किन्तु पूर्ण स्वरूप को स्वीकार किए बिना पूर्णता का प्रारम्भ कैसे हो ? ज्ञानी, लोगों से कहें कि 'तुम प्रभु हो' – तो सुनते ही भड़क उठते हैं और कहते हैं कि अरे ! आत्मा को प्रभु क्यों कहा ? ज्ञानी कहते हैं कि सभी आत्मा प्रभु हैं। बाह्य विषय-कषाय में जिनकी दृष्टि है, वे आत्मा को प्रभु मानने से इन्कार करते हैं, लेकिन यहाँ कहते हैं कि – 'मैं सिद्ध हूँ' – ऐसा विश्वास करके 'हाँ' कहो ! पूर्णता के लक्ष बिना यथार्थ प्रारम्भ नहीं होता। 'मैं पामर हूँ, अपूर्ण हूँ' – ऐसा मानकर कोई चाहे जो करे, उसे परमार्थ से कोई प्रारम्भ नहीं है। 'मैं प्रभु नहीं हूँ' – ऐसा कहने से 'ना' में से 'हाँ' नहीं आयेगी अर्थात् साधकत्व का प्रारम्भ नहीं होगा। केंचुए को भले ही कोई दूध-मिश्री पिलाये, तथापि वह नाग नहीं हो सकता; उसीप्रकार पहले से ही आत्मा को हीन मानकर पूर्णता का पुरुषार्थ करना चाहे तो नहीं होगा। साँपेलिया (नाग का बच्चा) यदि केंचुए जितना ही हो, तथापि वह फुंकार मारता हुआ नाग है, वह तेजवीर्यवान होता है। छोटा सा साँप का बच्चा भी फणिधर सर्प है, उसीप्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था में अशक्तिवान दिखलाई दे, तथापि स्वभाव से तो सिद्ध जैसा पूर्ण है, उस पूर्णता के लक्ष से आगे बढ़नेवाला साधक पूर्ण तक पहुँचे बिना (पूर्ण हुए बिना) नहीं रहेगा। इसलिए श्री आचार्यदेव पहले से ही पूर्ण सिद्ध-साध्यपने की बात प्रारम्भ करते हैं। कितनी उमंग है। (श्री समयसार-प्रवचन प्रथम भाग से)

सच्चे और झूठे का विवेक

कोई कहे कि अपने को सच्चे-झूठे धर्म की परीक्षा नहीं करना है, अवगुण क्या कहलाता है और गुण क्या कहलाता है, वह नहीं जानना है, जहाँ से जैसा मिले वहाँ से वैसा लेना है – ऐसा कहनेवाले तो गारे के खूंटे अथवा ध्वजपुच्छ जैसे हैं। जिसप्रकार ध्वजा की पूंछ जिस ओर हवा चले, उस ओर उड़ने लगती है और गारे में गाड़ा हुआ खूंटा जिस ओर गाय फिरे उसी ओर झुक जाता है, उसीप्रकार वे अज्ञानी जहाँ जाते हैं, वहाँ 'हाँ जी हाँ' करते हैं, किन्तु सत्य-असत्य को न्याय से नहीं समझते। 'एक को सच्चा मानूँगा' तो दूसरे पर द्वेष आयेगा, इसलिए सब को समान मानना चाहिए, सच्चे-झूठे की परीक्षा नहीं करना चाहिए' – ऐसी मान्यता में तो अविवेक और मूढ़ता है। सत्य-असत्य का नि:शंक विवेक करने में भी जिसकी शुद्धि नहीं चलती उसे धर्म नहीं होता। गुड़ और खली, अनाज और विष्टा, सज्जन और दुर्जन – सबको समान मानो – ऐसा वे कहते हैं, किन्तु घर में रोटी-दाल में थोड़ा-सा भी फेर पड़ जाये तो बिगड़ उठते हैं। भात में कंकर आ जाए तो वहाँ भात और कंकर को समान मानकर खा नहीं लेते, किन्तु भात और कंकर का विवेक करके कंकर को निकाल देते हैं। यदि ऐसा न करे तो लोग उसे मूर्ख मानते हैं। उसीप्रकार धर्म में सच्चे-झूठे का बराबर विवेक करके, असत्य का सेवन छोड़ना चाहिए। यदि सच्चे-झूठे का विवेक न करे और सब समान माने तो वह समभाव नहीं है किन्तु धर्ममूढ़ता है। संसार में-घर में अच्छे-बुरे का विवेक करता है और परमार्थ में सत्य-असत्य का विवेक न करे – असत्य को सत्य में और सत्य को असत्य में मिलाये तो वह मूढ़ता है, समभाव नहीं है। सभी आत्मा भगवान हैं, किन्तु वे तो शक्तिरूप से हैं, वर्तमान अवस्था में तो फेर है, इसलिए अवस्था का विवेक भी करना चाहिए। विष और अमृत, स्त्री और पुत्री – दोनों को समान मानने में विवेक क्या रहा ? पुत्री, स्त्री और माता यह तीनों 'स्त्री' रूप से (नारी जाति की अपेक्षा से) समान हैं, किन्तु वर्तमान लोकव्यवहार में समान नहीं हैं। जो ऐसा न जाने, उसे लोक व्यवहार में मूर्ख कहा जाता है, उसीप्रकार लोकोत्तर आत्मधर्म में भी जो विवेक न रखे, उसे भी मूर्ख कहा जाता है, इसलिए सच्चे-झूठे को समझकर सत्य का ही स्वीकार करना चाहिए। जिसके पास से धर्म समझना है उसने स्वयं धर्म प्राप्त किया है या नहीं और उसमें अलौकिक गुण क्या है ? आदि प्रथम जानना चाहिए।

– समयसार प्रवचन से

☆ ☆ ☆

पुण्य, पाप और धर्म संबंध में

आत्मार्थी जीव का विवेक कैसा होता है ?

विकार का कार्य करने योग्य है – ऐसा माननेवाला जीव विकार को नहीं हटा सकता। कोई जीव आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माने, अज्ञानभाव से विकार करता है, तथापि न माने तो विकार को नहीं हटा सकता। पुण्य बंधन है, इसलिए मोक्षमार्ग में उसका निषेध है – यह बात ठीक है, किन्तु व्यवहार से भी उसका निषेध करके पापमार्ग में प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विष के समान है, अकेले पाप से तो नरक-निगोद में जायेगा। श्रद्धा में तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं, किन्तु वर्तमान में शुद्धभाव में न रह सके तो शुभ में युक्त होना चाहिए किन्तु अशुभ में तो नहीं ही जाना चाहिए। पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करना तो किसी भी प्रकार ठीक नहीं है और यदि कोई पुण्यभाव को ही धर्म मान ले तो उसे भी धर्म नहीं होता। कोई कहते हैं कि हमें पुण्यभाव नहीं करना है अथवा सामनेवाले का पुण्य होगा तो हमारी तृष्णा कम होगी और दान करने का भाव होगा – इसप्रकार व्यर्थ के बहाने निकालते हैं और राग कम नहीं करते। तो हे भाई ! अभी तू निर्विकलप शुद्धभाव को तो प्राप्त नहीं हुआ है और पुण्यभाव भी तुझे नहीं करना है तो क्या तू पाप में ही जाना चाहता है ? तृष्णा कम करना तो तेरे परिणामों के आधीन है, सामनेवाले के पुण्य के आधीन नहीं है। इसलिए पुण्य-पाप रहित आत्मा के भानसहित वर्तमान योग्यता के अनुसारा सारा विवेक प्रथम समझना चाहिए और कोई शुभभाव में ही संतोष मानकर रुक जाये अथवा उससे धीरे-धीरे धर्म होगा – इसप्रकार पुण्य को धर्म का साधन माने तो उसके भी भवचक्र कम नहीं होंगे। धर्म का प्रारम्भ करने की इच्छावाले को तीव्र आसक्ति तो कम करना ही चाहिए, किन्तु उतने से तर जायेगा – ऐसा माने तो वह भ्रम है। जीव को पाप से छुड़ाकर मात्र पुण्य में नहीं लगा देना है, किन्तु पाप और पुण्य दोनों से रहित ज्ञायकस्वभाव बतलाना है। इसलिए पुण्य-पाप और उन दोनों से रहित धर्म – उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजयुं तेह
त्यां त्यां ते ते आचरे आत्मार्थी जन अेह।

(आत्मसिद्धि, गाथा 8)

मैं अक्रिय ज्ञानानंद शुद्ध आत्मा हूँ – यह निश्चय और उसका भान करके उसमें अंशतः स्थिरता की वृद्धि करके राग को दूर करना, सो व्यवहार। मैं शुद्ध ज्ञायक हूँ, अशुभ से बचने के लिए शुभभाव में युक्त होना भी विकार है, वह मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है – ऐसा समझना और अपने परिणाम सुधारने का प्रयत्न चालू रखना – वह आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है। प्रथम पुण्य-पापरहित आत्मस्वभाव को श्रद्धा ज्ञान में निश्चित् करके पश्चात् पुण्य-पापरूप विकार से हटकर अन्तर में अरूपी ज्ञान-शांति में स्थिर होना ही आत्मार्थी का कर्त्तव्य है। उसे माने और आचरण करे तथा उसी को मानने और आचरण करने की अंतर से भावना रखे, वह भी आत्मार्थी है।

– समयसार प्रवचन से

अवतार बंद होने का उपाय

अपना आत्मा जैसा है वैसा समझने की रीति सूक्ष्म है; उसे भूलकर अन्य सबकुछ किया किंतु उसका फल संसार (अवतार) है। उन अवतारों को बंद करने के लिये अनंत तीर्थंकरों ने पुण्य-पापरहित आत्मा की श्रद्धा, उसकी प्रतीति और उसमें स्थिरता—वह उपाय कहा है।

ज्ञानी की सीख

हे जीव! तेरे ज्ञानस्वभाव में जाननेरूप क्रिया होती है, उसे भूलकर पर को अच्छा-बुरा मानने की आकुलता क्यों करता है? शांत हो भाई! अनंत काल में दुर्लभ मनुष्यभव, तथा उसमें महा महंगा सत्समागम-श्रवण प्राप्त हुआ और तेरा स्वतंत्रस्वभाव है, उसे तू न माने तो कैसे चल सकता है?

—समयसार प्रवचन से

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)